वेदों में ऋत की अवधारणा तथा पुराणों में उसकी सङ्क्रान्ति

राजेन्द्र मिश्र

गवेषणापरे प्रबन्धेऽत्र वेदपुराणादिषु उपवर्णितान् ऋतसम्बन्धिनः प्रस्तावान् सङ्गृह्य वेदे ऋतशब्दार्थं यथासन्दर्भं परिशील्य ऋतविषयिणीं रहस्यावधारणां स्पष्टं विचारयति निबन्धा।

वैदिक वाङ्मय में ऋत का पृथक् सन्दर्भों में पृथक् अभिप्रायों का बोधक प्रतीत होता है। उसकी व्याख्यायें तो आश्चर्यजनक ढंग से व्यापक एवं विविधार्थक सिद्ध होती है। वस्तुतः ऋत शब्द ब्रह्म के ही समकक्ष प्रभावी दृष्टिगोचर होता है। परन्तु निर्गलितार्थ लेने पर ऋत सत्यस्वरूप ब्रह्म, अविनाशी सत्ता अथवा ब्रह्माण्डीय सुव्यवस्था एवं सुप्रतिष्ठा का पर्याय प्रतीत होता है।

वेदों में ऋत को सृष्टि का मूल कहा गया है। वह सृष्टि जो महाप्रलय एवं नूतनसृष्टि के कारण 'पुनर्नवा' प्रतीत होती है– इस ऋत के ही कारण पूर्वसृष्टि से अभिन्न होती है। प्रत्येक नई सृष्टि में सब कुछ पूर्व सृष्टि जैसा ही होता है (यथापूर्वमकल्पयत्) और इस 'यथापूर्वकल्पन' का मूलाधार है 'ऋत'। ऋग्वेद में सोम तक को 'ऋतजात' बताया गया है। सोम ऋतरूप ही होता है। सूर्य ऋत का ही विस्तार करता है तथा नदियाँ भी अपने प्रवाह द्वारा ऋत का ही वहन करती हैं।

वस्तुतः चारों वैदिक संहिताएँ ऋत के विविध सन्दर्भों, व्याख्यानों तथा संकेतों से भरी पड़ी हैं। उन विविध व्याख्यानों में ही ऋत का 'सर्वमान्य' स्वरूप भी समाहित है। अतः उन सन्दर्भों का संक्षिप्त आकलन भी अपेक्षित है।

मित्रावरुण वरुण को विशेष रूप से ऋत का नियामक माना गया है। इन को 'ऋतावृधौ' तथा 'ऋतस्पृशा' बताया गया है। वे ऋत से ही बढ़ने वाले तथा

ऋतपालक बताये गये हैं। ऋत द्वारा ही वे विशाल यज्ञों को सम्पन्न करते हैं।[१] ऋग्वेद १.२३.५ में भी उन्हें ऋत की ज्योति का रक्षक (ऋतस्य ज्योतिषस्पती) बताया गया है। देवताओं की प्रभविष्णुता तथा मानवापेक्षया उनकी अधिक शक्तिमत्ता का कारण भी उनका 'ऋतानुपालन' ही बताया गया है–

ऋतस्य देवा अनुव्रताग्रः – ऋग्वेद १.६५.३

इसका प्रमाण हमें मिलता है ऋग्वेद के १.६८.५ संवाद मंत्र में जहाँ अग्नि को 'ऋतस्यप्रेषाः' तथा 'ऋतस्य धीतिः' कहा गया है। अग्नि ऋत का सत्य का प्रेरक एवं रक्षक है। इस प्रकार समस्त देवगण ही सत्य के प्रेरक एवं रक्षक सिद्ध होते हैं।

ऋग्वेद के एक मंत्र में गायों को ऋत के लिये दूध देने वाली बताया गया है। निश्चय ही यहाँ ऋत शब्द यज्ञ के अर्थ में प्रयुक्त है।[२]

ऋषि कक्षीवान् उषस् से प्रार्थना करते हुए कहते हैं–

ऋतस्य रश्िममनुयच्छमाना
भद्रं भद्रं ऋतमस्मातु धेहि।

–ऋग्वेद १.१२३.१३

प्रस्तुत सन्दर्भ में आचार्य सायण ऋत का अर्थ सूर्य से लेते हैं। उषस् सूर्य किरणों के अनुकूल रहती है।

मंत्रद्रष्टा ऋषि प्रत्येक प्रशस्त सन्दर्भ में ऋत का ही दर्शन करता है। अग्नि की दाहकता, सूर्य की तेजस्विता अथवा सोम का अमृतत्व– सबका मूल ऋत ही है। यजुर्वेद ११.४७ में ऋषि कहता है–

ऋतं सत्यममृतं सत्यमग्निं पुरीव्यमङ्गिःस्वद्यरामः।

इसी अर्थ में अग्नि को ऋतवान्[३] तथा विश्वदर्शन विभूषणों से अलंकृत भी किया गया है (यजु. १२.१११) अग्नि ही, सत्य की वृद्धि करने वाला वसन्तादिरूप ऋतुसमुदाय भी है–

ऋतव स्थ ऋतावृध ऋतुष्ठा स्थ ऋतावृधः। यजु. १६.३

मरुतों के सन्दर्भ में भी, अन्य अनेक विशेषणों के साथ उन्हें 'ऋत एवं

सत्य' कहा गया है। वे ऋतजित् सत्यजित् तथा सेनाजित् हैं–

ऋतश्च सत्यश्च ध्रुवश्च धरुणश्च
धर्ता च विधर्ता च विधारयः॥ १७.८२
ऋतजिच्च सत्यजिच्च सेनजिच्च सुषेणश्च
ऋत्तिमित्रश्च दूरे अमित्रश्च गणः॥ १७.८३ (यजु.)

यजुर्वेद के १८वें अध्याय में यज्ञ के फलस्वरूप ज्यैष्ठ्य, आधिपत्य, श्रद्धा, धन, क्रीडा एवं मोद आदि के साथ सत्य एवं ऋत की भी कामना की गई है (ऋतञ्च में.....यज्ञेन कल्पन्ताम् - १८.६)

इसी अध्याय के १८वें मंत्र में अग्नि को ऋताषाट् तथा ऋतधामा कहा गया है जिसका तात्पर्य है ऋत के बल से विजय प्राप्त करने वाला तथा अविनाशी तेजवाला।

तैत्ति. आरण्यक में ऋत को स्पष्टतः 'तप' का पर्याय कहा गया क्योंकि ऋत स्वाध्याय एवं प्रवचन को भी कहते हैं। तैत्ति.आर. ७.९. में स्वाध्याय एवं प्रवचन को ही तप कहा गया है–

तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च।
ऋतं तपः सत्यं तपः श्रुतं तपः शान्तं तपो दमस्तपः
शमस्तपो दानं तपो यज्ञस्तपो भूर्भुवः सुवर्ब्रह्मैतदुपास्वैतत्तपः।

तै. आ. १०.८

अथर्ववेद के संदर्भ ऋत के अर्थ का विस्तार सा करते प्रतीत होते हैं। ६.११४.२ संख्यक मंत्र में आदित्य से प्रार्थना करते हुए कहा गया है–

ऋतस्यर्तेनादित्या यजया मुञ्चतेह नः।
यज्ञं यद् यज्ञवाहसः शिक्षन्तो नोपशेकिम्॥

अर्थात् यदि यज्ञ प्रक्रिया में हमसे त्रुटि हो भी जाय तो उस 'ऋत के ऋत से' अर्थात् यज्ञ के पुण्यफल से हम वञ्चित न हों।

अन्न ब्रह्म अथवा विराट् अन्न की महिमा ख्यापित करते हुए कहा गया है–

ऋतं हस्तावनेजनं (११.३.१३)

अर्थात् सत्य ही हाथ धोने का जल है।

उच्छिष्ट ब्रह्मसूक्त (काण्ड ११ सूक्त ७) में ब्रह्म की विभूतियों में ऋत एवं सत्य को भी परिगणित किया गया है–

ऋतं सत्यं तपो राष्ट्रं श्रमो धर्मश्च कर्म च।
भूतं भविष्यदुच्छिष्टे वीर्यं लक्ष्मीर्बलं बले॥ ११.७.१७

ब्रह्मौदन-सूक्त में (काण्ड ११ सूक्त १) में अन्न की वेदी को ऋतनिर्मित (ऋतेन त्वष्टा मनसा हितैषा ब्रह्मौदनस्य निर्मिता वेदिरग्ने) कहा गया है।

अथर्ववेद का १५वां काण्ड अध्यात्मप्रकरण कहा गया है। इस काण्ड में निराकार परमेश्वर के ऐश्वर्य का अद्भुत प्रतीकात्मक चित्रण है। यहाँ परब्रह्म को एक, ललाम, महत्, ज्येष्ठ, ब्रह्म, तप, सत्य तथा महादेव आदि संज्ञाओं से विभूषित किया गया है। जब वह ब्रह्म ऊर्ध्वगामी बना तब ऋत एवं सत्य आदि भी उसके अनुगामी बन गये–

स ऊर्ध्वां दिशमनुव्यचलत्।
तमृतञ्च सत्यञ्च सूर्यश्च चन्द्रश्च नक्षत्राणि चानुव्यचलन्।
ऋतस्य च वै स सत्यस्य च सूर्यस्य च चन्द्रस्य च नक्षत्राणां
च प्रियं धाम भवति य एवं वेद॥ अथर्व. १५.६.५, ६.

अथर्व. इन्द्र को सत्यमार्ग का अन्वेषी बताता है– ऋतस्य पंथामन्वेषि विद्वान् (१७.१.१६) अपने विषय में भी ऋषि यही कामना करता है कि–

ऋतेन गुप्तः ऋतुभिश्च सर्वैर्भूतेन गुप्तो भव्येन चाहम्।
मा मा प्रापत् याप्सा मोत मृत्युरन्तर्दधेऽहं सलिलेन वाचः॥

वस्तुतः सत्य का मार्ग ही स्वर्गप्राप्ति का मार्ग है। इसी मार्ग से सुकृती अङ्गिरस जन स्वर्ग तक जा सके हैं–

ऋतस्य पन्थामनु पश्य साध्वङ्गिरसः सुकृतो येन यन्ति।
तेभिर्याहि पथिभिः स्वर्गं यत्रादित्या मधु भक्षयन्ति॥
तृतीये नाके अधि वि श्रयस्व॥ १८.४.३

अथर्ववेद के कुछ गूढ सन्दर्भों में 'ऋत' का आशय स्पष्ट नहीं होता है। देवराज इन्द्र की स्तुति करते हुए आङ्गिरस जयास्य कहते हैं कि हमारे पिता

वृहस्पति ने इन्द्रस्तुतिविषयक इस 'ऋतप्रजाता सप्तशीर्ष्णी बृहती धीः' को प्राप्त किया। यहाँ सप्तशीर्ष्णी तथा ऋतप्रजाता का सामंजस्य बैठा पाना थोड़ा कठिन प्रतीत होता है। डॉ. सातवलेकर जी ने नेत्रयुगल, कर्णयुगल, नासिकायुगल तथा मुख को ही समवेत रूप से सात सिटों वाली बुद्धि (मननशक्ति) कहा है जो कि ऋतप्रजाता है।[४]

समूचे वैदिक मंत्रसमवाय में 'ऋत एवं सत्य' का सर्वाधिक परिनिष्ठित विवेचन अघमर्षणमंत्रों में मिलता है। यहाँ परब्रह्म के देदीप्यमान तप से ऋत एवं सत्य का प्रादुर्भाव माना गया है। ऋत एवं सत्य के अनन्तर ही प्रलयरूपी रात्रि जनश्री–

ऋतं च सत्यञ्चामीद्धात् तपसो ऽध्यजायत।
ततो राज्यमजायत ततः समुद्रो अर्णवः॥१
समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अप्जायत
अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी॥२
सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वकल्पयत्
दिवं च पृथिवी चान्तरीक्षमथो स्वः॥३

–ऋग्वेद १०.१९०

ऋतस्य गोपा न दमाय सुऋतुः (९.७३.८) ऋतस्य तन्तु आदि ऋग्वेदीय सन्दर्भों में निश्चय ही ऋत शब्द यज्ञ का वाचक है। ऐसा प्रतीत होता है जहाँ कहीं भी ऋषि श्रद्धाविगलित होता है अथवा स्वयं को 'इदमित्थम् कहने की स्थिति में नहीं पाता, अथवा जहाँ वह 'नेति नेति' की संशय दोला में आरूढ़ होता है– वहीं, अनिर्वचनीयता की स्थिति में 'ऋत' का प्रयोग करता है। फलतः उसकी दृष्टि में परब्रह्म तो ऋतस्रष्टा है ही, यथासन्दर्भ सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रगण, यज्ञ एवं सोमादि सभी 'ऋत' ही प्रतीत होते हैं। सोम देवता को अर्पित पवमानसूक्त के एक मंत्र में ऋषि कहता है–

ऋतं वदन्नृतद्युम्न सत्यं वदन् त्सत्यकर्मन्।
श्रद्धां वदन् त्सोम राजन् धात्रा सोम परिष्कृत
इन्द्रामेन्द्रोपरि स्रव॥ ऋग्वेद ९.११३.४

वस्तुतः एक ही शब्द 'ऋत' इन्द्र, अग्नि, सोम, मरुत मित्र एवं वरुण आदि विविध देवों के अर्थ में विविध अर्थ देता है। वरुण के सन्दर्भ में यदि वह

'अविनाशी ब्रह्माण्डीय नियमन' का वाचक है तो इन्द्र के संदर्भ में मात्र जल का, जैसे–

ऋतं देवाय कृण्वते सवित्रे इन्द्रायाहिघ्ने न रमन्त आपः।

–ऋग्वेद २.३०.१

यहाँ 'ऋतं कृण्वते' का तात्पर्य है जलप्रेरक इन्द्र।

ऋतावा हविष्यन्तस्तमीलते (ऋग्वेद ३.१३.२) का अर्थ है– सत्यसंकल्प वाले हविर्दाता उस अग्नि की उपासना करते हैं।

ऋतावरी दिवो अर्कैरबोधि (ऋग्वेद ३.६१.६) का तात्पर्य है ऋतावरी अर्थात् सत्य का पालन करने वाली उषा द्युलोक पर आने वाली मयूखमाला से पहचानी जाती है।

आंगिरसों ने अपनी सत्य की शक्ति से ही पर्वतों को विदीर्ण कर पणियों द्वारा अपहृत गायों को खोज लिया था।

ऋतेनाद्रिं व्यसन् भिन्दन्तः समङ्गिरसो नवन्त गोभिः॥

–ऋग्वेद ४.३.११

यन्तवान् पराक्रमी अग्नि उत्तम एवं पोषक दूध से सिञ्चित होता है– ऋतेन हिष्मा वृषभाश्चिदक्तः पुमाँ अग्निः पयसा पृष्ठयेन।।

–ऋग्वेद ४.३.१०

कुछेक मंत्रों में तो अनेक बार प्रयुक्त 'ऋत' शब्द भिन्न अर्थ देता है। ऋग्वेद ५.१२.१ में ऋत 'स्तुति तथा जलधरा' दोनों का अभिप्राय प्रकट करता है–

ऋतं चिकित्व ऋतमिच्चिकिद्धृतस्य
धारा अनु तृन्धि पूर्वीः।
नाहं यातुं सहास न द्वयेन ऋतं सपाम्यरुषस्य वृष्णः॥

ऋग्वेद. ३.१२.२

कुछ मंत्रों में ऋत का अत्यन्त मनोरम लोकोपयोगी अर्थ मिलता है जैसे– ऋत अथवा सत्य के मार्ग पर चलकर ही ज्ञानियों ने (जगत्) रक्षा की है–

ऋतस्य पथि वेधा अपायि। ६.४४.८

ऋग्वेद ६.५१.९ में अन्ततः विश्वदेवों को ही 'ऋतस्य रथ्यः' (यज्ञ का नेता) तथा 'ऋतस्य पस्त्यसदः' (यज्ञशाला में निवास करने वाला) की उपाधि से विभूषित कर दिया गया है।

उपर्युक्त सन्दर्भों में आये ऋतप्रजात, ऋतपथ, ऋतावा, ऋतपस्त्यसदः, ऋतावरी, ऋतगोपा, ऋततन्तुः ऋतगुप्तः, ऋतान्वेषी, ऋत-रश्मि, ऋतावान्ः, ऋतज्योतिः, ऋताषाट्, ऋतधामा, ऋतजित्, ऋतावधः, ऋतस्पृशः, ऋतप्रेषाः, ऋतधीतिः तथा ऋतजातादि शब्दों से वैदिक संहिताओं में ऋत के निस्सीम, विविध तथा गूढ अभिप्रायों का मान होता है। कुछ विद्वानों की दृष्टि में वैदिक ऋत से ही अंग्रेजी का RIGHT शब्द निर्गत हुआ है। ध्वनि तथा अर्थसाम्यवश यह युक्तियुक्त भी प्रतीत होता है। परन्तु ऐसा है नहीं। RIGHT तो ऋत के सांसारिक रूप 'सत्य' के भी निकष पर खरा नहीं उतरता। सत्य का अर्थ है– त्रिकालाबाधित सत्ता। परन्तु RIGHT मात्र उचित व्यवहार तक सीमित है। निश्चय ही 'ऋत' इन सबसे परे कोई बड़ी सत्ता है।

वस्तुतः संहिता के प्रामाण्य से 'ऋत' वह महाप्रभविष्णु ब्रह्माण्डीय व्यवस्था (Cosmic Order) सिद्ध होती है जिसके अनुशासन से ही ग्रहगण अनन्त काल से एक ही सुनिश्चित ग्रहपथ पर चंक्रमण करते रहे हैं। उसी ऋतव्यवस्था ने सूर्य को ऊर्जा, अग्नि को तेजस एवं दाहकता तथा जल को शीतलता प्रदान की है। यह ऋत ही है जिसके अनुशासनवश सूर्य नियमित रूप से पूर्वदिशा में उदित एवं पश्चिम दिशा में अस्त होता है। ग्रहों का परस्पर आकर्षणशक्ति से प्रभावित होते हुए भी, एक दूसरे से निश्चित दूरी पर ही गतिशील होना– ऋत का प्रतिफल थे। इस प्रकार, ब्रह्माण्डगत त्रिकालाबाधित सुव्यवस्था ऋत है और उसी का भौतिक अथवा सांसारिक रूप सत्य है। अनुल्लंघनीय दैवी अनुशासन ही, ब्रह्माण्ड के स्तर पर 'ऋत' तथा जगत् के स्तर 'सत्य' है।

सत्य की प्रतिष्ठा मूलतः ऋत की ही प्रतिष्ठा है जिसकी अनुशंसा सम्पूर्ण भारतीय-साहित्य में पदे पदे मिलती है। 'सत्यं परं धीमहि' का आदर्श भारत की विश्ववारा अर्थसंस्कृति का मूलाधार रहा है। स्मृतियाँ, जो वेदार्थ का ही अनुगमन करती है, भी उसी सत्य को सर्वोपरि प्रतिष्ठित करती है। प्राचीन काल में, दीक्षान्त के अवसर पर उपाध्याय 'सत्यं वद' कहकर प्रथम देशना 'सत्यं' को

ही देता था। उपनिषदों तथा स्मृतियों ने सत्य के गर्भ को, दृष्टान्तमुखेन, बड़ी कुशलता से उद्घाटित किया, महानारायणोपनिषद् के एक मंत्र में कहा गया–

सत्येन वायुरावाति सत्येनादित्यो रोचते दिवि।
सत्यं वाचः प्रतिष्ठा सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम्॥
तस्मात्सत्यं परमं वदन्ति।

वशिष्ठ स्मृति में भी समान विचार मिलते हैं–

धर्मं चरत माऽधर्मं सत्यं वदत माऽनृतम्।
दीर्घं पश्यत मा ह्रस्वं परं पश्यत माऽपरम्॥

ऋत एवं सत्य की व्याख्यानों की भूयसी मात्रा एक स्वतंत्र ग्रंथ पर सकती है। प्रायः एक ही प्रकार के तथ्य विधि ब्राह्मण्ग्रंथों, आरण्यकों, उपनिषदों तथा स्मृतियों में मिल जायेंगे।

कालान्तर में जब वेदसंहिता की भाषा तथा उसमें अभिव्यक्त संकेत या तथ्य उत्तरोत्तर जटिल होने लगे, तब महाभारतकार महर्षि कृष्णद्वेपायनव्यास ने एक नये प्रस्थान का सूत्रपात किया, यह कहकर कि–

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेमालपश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति॥

पौराणिक वाङ्मय सर्जना की या लौमित्तिक अथवा काम्य-पृष्ठभूमि है। वैदिकदेवशास्त्र के रूपांकन तथा मूर्तीकरण का प्रयास प्रारम्भ हुआ। ऋग्वेद के मंत्रांश 'वृषणः इन्द्रः' (बलवान् इन्द्र) को मूर्त रूप देने के लिये अहस्याकामुक मघवा की कथा गढ़ी गई जिसके उग्रतेजा महर्षि गौतम के शाप से सर्वप्रथम तो पापी इन्द्र के वृषण (अण्डकोष) चू पड़ते हैं तथा क्लीब बन जाता है परन्तु बाद में समाशील महर्षि के आशीः प्रभाव से वृषण संयोजित कर, आश्विनीकुमार उसे पुनः पौरुष-सम्पन्न बना देते हैं।[५]

वस्तुतः वैदिक कथासंकेतों के विस्तार का प्रयत्न बृहददेवताकार आचार्य शौनक में ही प्रारंभ कर दिया था। निरुक्तकार यास्क भी अपने युग में प्रचलित वेदव्याख्यान की विभिन्न पद्धतियों (ऐतिहासिक, प्राकृतिक आदि) का हवाला देते हुए वैदिक देवों की पुरुषविधता तथ अपुरुषविधता की चर्चा करते हैं। यह एक लम्बी प्रक्रिया थी जो सम्भवतः हजारों वर्षों में सम्पन्न हुई होगी– जिसकी उपलब्धि है विशाल पौराणिक-वाङ्मय।

पौराणिक कथाओं में ऋत एवं सत्य की संक्रान्ति तो होनी ही थी, क्योंकि ऋत अथवा सत्य, अभ्युदय एवं निःश्रेयस का एकमात्र साधन था। यही कारण था कि नल, युधिष्ठिर, राम, मान्धाता, रन्तिदेव, हरिश्चन्द्र, पृथु, नहुष, ययाति, शर्याति, अम्बरीष, जनक सरीखे सैकड़ों सत्यरक्षक राजर्षियों के प्रामाणिक एवं विश्वसनीय उदन्तों द्वारा पुराणों ने सत्य की आस्था एवं निष्ठा को भारतीय जनता के हृदय में युग-युग के लिये कीलित कर दिया। स्वय देवाधिदेव शिव पुराणार्थ को वेदार्थ से परतर मानते हैं।[६] सत्य की रक्षा के लिये महाराज हरिश्चन्द्र ने अपने भौतिक सुखों का जैसा उत्सर्ग किया, वह देवीभागवतमहापुराण में सप्रमाण तथा सविस्तार वर्णित है, इसी सत्यरक्षा से जुड़ी अयोध्यानरेश महाराज दशरथ तथा नैषध नल की कथाएँ रामायण, श्रीमद्भागवत तथा अन्यान्य पुराणों में सुरक्षित हैं। वस्तुतः इन्हीं उत्प्रेरक चरित्रकथाओं ने समाज में नैतिकता के मानदण्ड स्थापित किये। सत्य, धर्म, परोपकार, करुणा, ममता, वत्सलता आदि के ये महान् मानवीय आदर्श समाज में प्रतिष्ठित न होते तो 'समाज कैसा होता' इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। वस्तुतः सत्यानुपालनादि के ये दृष्टान्त ही पीढ़ी को उत्पथ होने से बचाते हैं जैसा कि योगेश्वर कृष्ण ने स्वयं गीता में कहा–

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणीकुरुते लोकस्तमनुवर्तते।।

संदर्भ–

१. ऋतेन मित्रावरुणावृतावृधावृतस्पृशा। ऋतुं वृहन्तमाशाये। ऋग्वेद १.२.८
२. ऋतस्य हि धेनवो वावशानाः स्मद्घ्नीः पीपयन्त द्युभक्ताः।
–ऋग्वेद १.७३.६.
३. इसी भाव का अनुवर्तन यजु. २६.६ में भी मिलता है–
ऋतावानं वैश्वानरममृतंस्य ज्योतिषस्पतिम्। ऋजस्रं धर्ममीमहे।।
४. द्रष्टव्य : अथर्व. २०.९१.२.
५. इसी प्रकार के अन्य वेदमन्त्रांश भी हैं जैसे– अहतयायै जारः, तारापतिश्चन्द्रमाः ब्रह्मा स्वदुहितुः पतिः, यः पर्वतान् प्रकुपितानरम्यात् आदि।
६. वेदार्थादधिकं मन्ये पुराणार्थं वरानने।
वेदाः प्रतिष्ठिताः सर्वे पुराणे नात्र संशयः।। नारद. २.२४.७